



ग्लोबल गाँव के देवता उपन्यास में स्त्रियों का जीवन संघर्ष

अविनाश कुमार

पीएचडी शोधार्थी, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत

प्रस्तावना

साहित्यकार के साथ-साथ साहित्य के पाठक के लिए भी यह जरूरी हो जाता है कि वह समाज में व्याप्त सभी असमानताओं एवं वृत्तियों का निषेध करते हुए उसकी पड़ताल करे। साहित्य में दबे-कुचले एवं हाशिए के लोगों की जो कथाएँ मैंने पढ़ी हैं वह मेरे लिए केवल कल्पना का विषय ही नहीं थीं, बल्कि असमानताओं एवं शोषण का एक बहुत बड़ा रूप मैंने अपने आस-पास गाँव से लेकर शहर तक में महसूस किया था। 'आदिवासी', 'दलित' एवं 'अन्य पिछड़ा वर्ग' अब केवल गाँवों से लेकर जंगलों तक ही नहीं महानगरों में भी दिखाई देते हैं। कुछ पढ़े-लिखे लोगों को अगर छोड़ दें तो शहर में इनकी स्थिति गाँव और जंगल से भी बदतर है। समाज के हाशिए पर खड़े इस समुदाय के साथ मेरा जुड़ाव गाँव से शहर तक रहा। इसीलिए रणेन्द्र के उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' पढ़ते हुए इसपर लिखने से खुद को रोक नहीं पाया।

आज ग्लोबल गाँव की संकल्पना हमारे बीच है, परन्तु दुनिया को एक गाँव बनाने की होड़ में कहीं-न-कहीं हमारे गाँवों को उजाड़ा जा रहा है। हम उसे गाँव बनाए रखने में असफल सिद्ध हो रहे हैं। बात ग्लोबलाइज़ेशन और इससे बन रहे ग्लोबल गाँव तक तो ठीक है, परन्तु इसके नाम पर केवल कॉरपोरेटाइज़ेशन ही हो रहा है तो परिस्थिति कुछ अनुकूल सी नहीं जान पड़ती। ग्लोबलाइज़ेशन के नाम पर किए जा रहे इस कॉरपोरेटाइज़ेशन ने किस प्रकार हमारे समाज का और समाज के हाशिए पर खड़े आदिवासियों का शोषण किया, इसका जीवंत दस्तावेज़ है रणेन्द्र का वर्ष 2009 में प्रकाशित प्रथम उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता'। रणेन्द्र ने अपने इस उपन्यास में आदिवासियों की व्यथा-कथा कहने के लिए झारखंड की असुर जनजाति 'को केन्द्र में रखा है। अपने समय और समाज के परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो यह उपन्यास केवल असुर आदिवासियों की कथा मात्रा नहीं रह जाता, बल्कि समस्त आदिवासी समाज की संघर्ष-गाथा बनकर हमारे सामने आता है।

अंधविश्वास, शिक्षा व्यवस्था, विस्थापन आदि विषयों के साथ-साथ जिस महत्वपूर्ण विषय को रणेन्द्र ने अपने उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' में उठाया है, वह है – "स्त्रियों का जीवन संघर्ष"।

मातृ सत्तात्मकता के साथ-साथ आदिवासी समाज में भी मुख्यधारा समाज की तरह पितृसत्तात्मक समाज है। इसके बावजूद आदिवासी समाज की स्त्रियों की भूमिका मुख्यधारा की स्त्रियों की भूमिका से तुलनात्मक रूप से भिन्न है। समाज में लगभग सभी स्तरों पर वह पुरुषों के कंधे-से-कंधे मिलाकर चलती हैं। आदिवासी महिलाएँ केवल घरेलू कार्य ही नहीं करतीं बल्कि इसके अलावा खेती एवं अन्य सामाजिक कार्यों में इनकी भागीदारी पुरुषों के समान या उनसे

अधिक होती है। आदिवासी समाज में ये जनानी नहीं सयानी हैं। "महिलाएँ इस समाज में सियानी कहलाती थीं जनानी नहीं। जनानी शब्द कहीं-न-कहीं केवल जनन, जन्म देने की प्रक्रिया तक उन्हें संकुचित करता, जबकि सियानी शब्द उनकी विशेष समझदारी, सयानेपन को इंगित करता मालूम होता है।" [1]

महिलाओं को शारीरिक रूप से कमतर आँकने वाले पितृसत्तात्मक मुख्यधारा समाज को एक बार देखने की आवश्यकता है कि किस प्रकार जब मर्द लोग खा पीकर, गप्प मारते खरटिं भरने लगते हैं तब भी स्त्रीवर्तन चूल्हा साफ कर रही होती हैं तथा सुबह भी किरणें निकलने से पूर्व ही उठकर अपना कार्य आरंभ कर देती हैं। घर से बाहर तक के लगभग सभी कार्यों में इनका योगदान बढ़-चढ़ कर होता है। बाहरी लोगों तथा उनकी संस्कृति के सम्पर्क में आने से स्त्रियों का शोषण भले ही बढ़ा हो परन्तु उनके अपने समाज में तमाम कमियों के बावजूद एक उच्च स्थान उन्हें प्राप्त रहा है। इसका चित्रण न कर, आजकल कई रचनाकार केवल उनका शारीरिक शोषण करने में ही लगे रहते हैं। यह सच है कि भूमंडलीकरण के इस दौर में सामंती और उपभोक्तावादी मूल्यों के कारण स्त्रियों ने अपना स्थान एवं सम्मान खोया है।

"औरत का परम्परागत तौर पर समाज में मान सम्मान अब नहीं रहा है। परिवार, गाँव और समाज में उनकी उपेक्षा और बोझ माने जाने से औरतों की स्थिति दयनीय हो गई है। औपनिवेशिक प्रवृत्तियों और उपभोक्तावादी मूल्यों ने आदिवासी औरतों को समाज के हाशिए पर ला खड़ा किया है।" [2]

परन्तु इन सबके बावजूद आदिवासी समाज में मानवीय संबंध एवं संवेदनाओं की जो भिन्नता है वह उसे अब भी मुख्यधारा से अधिक सहनशील एवं स्त्रीप्रश्नों पर स्त्रीके पक्ष में खड़ा दिखने वाली है। आदिवासी महिलाओं का यौन जीवन भी मुख्यधारा के समाज से अधिक स्वच्छंद एवं स्त्रीहितैषी है। यह यौन स्वतंत्रता हवा में नहीं पनपती, यह स्त्रीके समस्त सामाजिक जीवन से निकलकर आई है। स्त्री को यह स्वतंत्रता सामाजिक ढाँचा प्रदान करता है। ऐसा नहीं हो सकता कि वह यौन रूप से तो स्वतंत्रा हो गई हो, परन्तु सामाजिक रूप से स्वतंत्रा नहीं है। उनकी यौन स्वतंत्रता के विषय में श्यामाचरण दुबे लिखते हैं-

"आदिवासी भारत में विवाह पूर्व तरुण-तरुणियों को पर्याप्त स्वतंत्रता होती है, और अधिकांश समाजों में यौन-क्षेत्रा में वे प्रयोग कर सकते हैं।" [3]

'ग्लोबल गाँव के देवता' में भी ललिता द्वारा लिविंग टुगेदर वाली बात इसी यौन-स्वतंत्रता का प्रतीक है जिसे मुख्यधारा द्वारा विद्रोह या नैतिकता का उल्लंघन कहा जाता है। हमारे समय-समाज अथवा

तथाकथित मुख्यधारा में आज भी 'लिविंग रिलेशनशिप' को नैतिक रूप से ठीक नहीं माना जाता तथा मुख्यधारा समाज इसे आज भी असहज महसूस कर अपनी संस्कृति पर खतरे के रूप में देखता है। इसके बरक्स आदिवासी समाज एवं संस्कृति में यह वर्षों से अत्यंत सहज रूप में विद्यमान है। मुख्यधारा समाज स्त्री तथा पुरुष के मध्य मित्राता को भी नैतिकता के मानदंड पर रखकर तौलता है, वहीं आदिवासी समाज इस मित्राता को उत्सव के रूप में मनाता है। लिविंग टूगेदर की सहजता और प्राचीनता को ललिता के इस कथन से समझा जा सकता है -

“आपकी दुनिया के लिए नई बात थी और अभी-अभी प्रैफ़ेशन में आई थी। आदिवासी समाज में तो यह बहुत पुराने दिनों से मान्य है। विवाह में किसी भी तरह की कठिनाई आ रही हो तो लड़का, लड़की साथ-साथ रहना शुरू कर देते हैं। इसीलिए यह लिविंग टूगेदर का फैशन यहीं से उतरकर वहाँ गया है।” [4]

भूमंडलीकरण के इस युग में जब अंतर्राष्ट्रीय कंपनियाँ इन कोयले और बाक्साइट की खदानों तक पहुँची तो उन्हें तथा उनके मेढ-मुंशी से लेकर दलालों तक एक और साधन वहाँ मिला जिसका कोयला और बाक्साइट के खदानों की तरह ही इन्होंने शोषण और व्यापार दोनों किया। एक ओर कंपनी के मेढ-मुंशी इन लड़कियों का शोषण करते हैं तथा बिना ब्याही ये लड़कियाँ अनेकों बार चंद पैसों की वजह एवं भूख की खातिर अपना गर्भ गिरवाती हैं। इसके साथ ही आदिवासी समाज में गोनू सिंह जैसे दलाल भी आ गए हैं, जो बाज़ारवाद के इस युग में पैसे की हाय-हाय में आदिवासी लड़कियों को बहला-फुसलाकर, दिल्ली कलकत्ता भेज देते हैं, जहाँ उनका मानसिक और शारीरिक कई स्तरों पर शोषण होता है। इसके कारणों पर ईशारा करते हुए वासवी कहती हैं कि-

“जंगल की कटाई से औरतों का जीवन चैतरफा प्रभावित हुआ है, और सबसे बड़ी बात तो उनकी आजीविका का छिन जाना है। वे आजाद से गुलाम बना दी गई हैं और भूख उनकी नियति बन गई है।” [5]

भूख और गरीबी ने इन आदिवासियों को अंदर तक इतना कमज़ोर किया है कि इनकी सामाजिक व्यवस्था भी अब पहले जैसी नहीं रह गई। रणेन्द्र अपने इस उपन्यास में आदिवासी स्त्रियों की वास्तविक अवस्था को हमारे सम्मुख रखते हैं। वे न तो केवल इनका और इनकी परम्पराओं का गुणगान करते हैं और न ही केवल शोषण के राग को ही अलापते हैं, अपितु शोषण और संघर्ष के बीच से निकलकर आ रही एक नई आदिवासी स्त्री का सामना ललिता के रूप में पाठकों से करवाते हैं। यहाँ ललिता पुनः आदिवासियों की परंपरा में सयानी जान पड़ती है, जो सार्वजनिक कार्य में भागीदारी ले रही है तथा आदिवासी प्रतिरोध के स्वर में एक मुखर आवाज़ बनती है और अंततः शहीद हो जाती है। बुधनी दी, ललिता, एतवारी जैसी मेहनती एवं आत्मनिर्भर स्त्रीपात्र अपने तमाम सामाजिक बंधन, शोषण एवं स्वतंत्रता के बीच आज भी अपने समाज में पुरुष के समकक्ष खड़े जान पड़ते हैं।

रणेन्द्र ने अपने उपन्यास 'ग्लोबल गाँव का देवता' में आदिवासी समाज की विभिन्न समस्याओं के साथ-साथ उनके लगातार पिछड़ने के बाद भी हार न मानने की कथा कही है। इस कथा में जितना पुरुष समाज आया है, उतना ही महिलाएँ भी। इस समाज में स्त्री को कही भी दुसरे दर्जे का प्राणी नहीं माना जाता भले ही हमारे 'सभ्य समाज' कहे जाने वाले लोगों के इनके जीवन में हस्तक्षेप से इनकी दशा भी खराब हुई है। इन सभी समस्याओं को रणेन्द्र ने काफी यथार्थवादी

तरीके से अपने उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' में चित्रित किया है जिससे एक आम पाठक भी आदिवासी समाज के विविध पहलुओं को समझ सकता है।

संदर्भ सूची

1. रणेन्द्र ;ग्लोबल गाँव के देवता ;भारतीय ज्ञानपीठ ; नई दिल्ली , सं. 2 ,009पृ23.
2. वासवी, ताबेन जोम, जमीन का हिस्सा, आधर प्रकाशन, पंचकुला हरियाणा, प्रथम संस्करण-2003, पृ .156
3. श्यामाचरण दुबे, मानव और संस्कृति, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1998, आवृत्ति-2010, पृ .252
4. रणेन्द्र ;ग्लोबल गाँव के देवता ;भारतीय ज्ञानपीठ ; नई दिल्ली , 2009पृ76 .
5. वासवी ;ताबेन जोम ; जमीन का हिस्सा; आधार ;पंचकुला ; हरियाणा ; सं ,2003 .पृ 149 .